इकाई 10 जनजातीय जातीयता और पूर्वोत्तर भारत

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- जनजातियों और जातीयता के बीच संबंध है स्पष्ट कर सकेंगे;
- उत्तर-पूर्व की जातीय संरचना की रूपरेखा बता सकेंगे;
- उत्तर-पूर्व में जनजातियों में स्तरीकरण किस तरह से होता है, यह बता सकेंगे; और
- स्तरीकरण के आधार के रूप में जनजातीय जातीयता के बारे में बता सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

'जनजाति' शब्द का प्रयोग आम तौर पर नृविज्ञान, समाजशास्त्र और संबंद्ध सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में किया जाता है। यही नहीं इसका प्रचलन पत्रकारिता और रोजमर्रा की बातचीत में भी आम है। मगर इसके अर्थों, अनुप्रयोगों और प्रयोगों को लेकर भारी विवाद रहा है। बहरहाल, यह शब्द सारी दुनिया में अलग-अलग परिस्थितियों में अनेक विविधरूपी समूहों के लिए प्रयोग किया जा रहा है। इस विविधता के

साथ-साथ जिन जिन समूहों के लिए यह शब्द प्रयोग किया जा रहा है, वे तरह-तरह के परिवर्तनों से गुजर रहे हैं। मगर इस शब्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है जिसके चलते इसे परिभाषित करना कठिन हो जाता है।

10.2 जनजातियां और जातीयता

मैकमिलन के नृ-विज्ञान कोश (*डिक्शनरी ऑफ एंथ्रोपोलॉजी*) के अनुसार 'जनजाति' शब्द किसी भी आदिम जन-समूह के पर्याय के रूप में आम प्रयोग में आ गया है। इसी से जुड़ा है नृ-वैज्ञानिक नव-विकासवादी प्रयोग, जिसमें 'जनजाति' शब्द इस आरोही क्रम के हिस्से के रूप में दिखाई देता है: (1) दल-मुख्यत: शिकार करने और भोजन एकत्र करने वाला समाज, जिसके सदस्यों में सरल सहकार/सहयोग होता था, (2) जनजाति-सिर्फ जीवन-निर्वाह करने वाले जन-समुदाय जिनमें सीमित स्तर पर परस्पर आदान-प्रदान होता है। (3) प्रधानी-इसका संबंध अधिक उन्नत श्रम का सामाजिक विभाजन और वैधानिक प्रभुसत्ता और (4) राज्य की शुरुआत होती है जिसमें शोषण, बल का केन्द्रित एकाधिकारवाद और बेशी उत्पादन के संचयन पर आधारित वर्ग मौजूद होते हैं।

अफ्रीका के परिप्रेक्ष्य में ई.ई. इवांस प्रिचार्ड ने जनजाति शब्द का प्रयोग वृहत्तर न्यूएर भाषाई और सांस्कृतिक समूह की राजनीतिक दृष्टि से संगठित एक विशिष्ट इकाई को बताने के लिए किया था। इस प्रकार यहां इस शब्द का प्रयोग जनजातीय को राज्य और वृहत्तर सांस्कृतिक समूह से उपजे एक राजनीतिक संगठन से अलग करने के लिए किया गया, जिसका एक हिस्सा वह संगठित इकाई होती है। इधर भारत में औपनिवेशकालीन ब्रिटिश नृजातिकारों ने जनजाति शब्द का प्रयोग सिर्फ विशिष्ट 'आदिम' सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों को बताने के लिए ही नहीं किया बल्कि इसका प्रयोग उन्होंने जातियों के लिए भी किया। उन्होंने जनजातियों और जातियों में भेद करने का कोई प्रयास नहीं किया। ऐसा करने वाले सबसे आरंभिक नृजातिकारों में हमें रिसले, लेसी, एल्विन, गिग्रॉन, टेलेंट्स सेजाविद, मार्टिन को गिन सकते हैं।

ए.वी. ठक्कर ने जनजातियों के स्वस्थानिक चरित्र को विशेष महत्व देने का प्रयास किया था (हालांकि यह जरूरी नहीं कि जनजातियां स्वस्थानिक हों क्योंकि उनमें भी अपने निवास-स्थान से पलयान करने की परंपरा पाई जाती है)। इसलिए उन्होंने इन्हें आदिवासी की संज्ञा दी जिसका यह अर्थ था कि उनके आसपास रहने वाले हिंदू और अन्य लोग उस स्थान में उनके बाद बसे थे। दूसरी ओर जी.एस. घुर्ये ने उन्हें पिछड़े हिन्दू का नाम दिया जिसके पीछे उनका मंतव्य जनजातियों और उनके पास-पड़ोस में रहने वाले हिन्दू देहातियों में धार्मिक और सांस्कृतिक व्यापन को दर्शाया था। बहरहाल, 1947 में भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद ही जनजाति की एक सुस्पष्ट और व्यवस्थित व्याख्या देने और जनजातियों को देहातियों से अलग करने की जरूरत राजनीतिक हलकों और विद्वानों में अधिक महसूस हुई।

दुबे ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में जनजाति को परिभाषित करने के प्रयासों में अस्पष्टता और अपूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि इस शब्द का प्रयोग "स्वस्थानिक आदिवासी और अधूरे समूहों तक सीमित होता प्रतीत होता है। हमारे पास किसी भी चरण पर जनजातीयता का निर्धारण करने के लिए सुस्पष्ट संकेतक उपलब्ध नहीं रहे हैं।" वह आगे कहते हैं कि प्रचलित परिभाषाएं जनजातियों में निम्न विशेषताओं में सभी नहीं तो कुछ विशेषताएं अवश्य पाती हैं: वे मूल या सबसे पुराने वासी होते है, आपेक्षिक पार्थक्य में पहाड़ियों या जंगल में रहते है, उनमें हलका इतिहास बोध होता है, उन्हें अपनी पांच-छह पीढ़ीयों की ही याद रहती है, उनमें प्रौद्योगिक और आर्थिक विकास निम्न स्तर का होता है, सांस्कृतिक लोकाचार में वे समाज के अन्य वर्गों से अलग दिखाई देते हैं, उनमें क्रम परंपरा नहीं पाई जाती और अगर वे समतावादी नहीं हों तो उनमें विभेदन भी नहीं पाया जाता है। इन सभी प्रतिमानों में किसी को भी हालांकि संतोषजनक नहीं कहा जा सकता, इसके बावजूद दुबे इनके आधार पर जनजातियों और गैर जनजातियों में भेद कर लेते हैं। देश की 6.9 प्रतिशत जनसंख्या को जनजातियों के रूप में वर्गीकृत किया गया है। चूंकि यह वर्गीकरण राजनीतिक स्वार्थों से प्रभावित है और इसमें ऐसे समूह शामिल किए गए हैं जो गैर जनजातीय हैं, इसलिए इससे विद्वानों के अलावा वे लोग भी संतुष्ट नहीं हैं जिन्हें इस सूची से बाहर रखा गया है। दुबे के अनुसार जनजाति की परिभाषा पर यह बहस निरर्थक है। उनका माना है कि

जनजाति को एक जातीय श्रेणी मान लेना ही सबसे उत्तम रहेगा जिसकी पहचान किसी वास्तविक या कल्पित वंश से होती है और जिसकी अपनी एक सामूहिक पहचान और अनेक किस्म के साझी सांस्कृतिक विशिष्टताएं होती हैं। नस्लीय, धार्मिक और भाषायी समूह भी जातीय चरित्र अर्जित कर सकते हैं इसलिए हमें इन समूहों की जातीयता के साथ-साथ जनजातिय जातीयता को भी लेकर चलना होगा।

10.2.1 जनजातियों की विभेदी विशिष्टताएं

जनजातियों के विभेदी लक्षणों को जाति की विशेषताओं की तुलना में देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि जनजातियां और जातियां दो भिन्न किस्म के सामाजिक संगठनों को दर्शाते हैं। श्रम का आनुवशिक विभाजन, क्रम परंपरा, शुद्धि और अशुद्धि का सिद्धांत, नागरिक और धार्मिक वर्जनाएं जातियों का नियमन करती हैं। लेकिन जनजाति इन से मुक्त रहती है। इस प्रकार सामाजिक संगठन के संचालन में नातेदारी, वंशावली, गोत्र इत्यादि को जनजातियों में सबसे ज्यादा महत्व मिलता है।

जाति समाजों की विशेषता असमानता, पराधीनता और परनिर्भरता है। इसी प्रकार जनजातियां जाति समूहों की तरह धर्म के उपयोग और अनुप्रयोग संबंधी प्रकार्य के बीच ज्यादा गहरा भेद नहीं करतीं। विषम जाति समाज के विपरीत जनजाति समाज को कमोबेश एक अधिक समांगी समाज के रूप में देखा जाता है। जनजातीय समाज का स्वरूप खंडात्मक माना जाता है जिसकी अपनी विशिष्ट प्रथाएं, अनुष्ठान, वर्जनाएं होती हैं और वे अपनी उत्पत्ति एक ही प्रदेश और पूर्वज से मानते हैं। मगर यह आदर्श विशिष्टता या भेद हमें भारत में नहीं दिखाई देती है क्योंकि यहां कुछ जनजातियां हमें सांतत्यक (अविच्छिन्नता) के किसी एक छोर पर खड़ी मिलती हैं तो वहीं अधिकांश जनजातीय समूह उसके मध्य में खड़े दिखाई देते हैं जो अनेक विविधरूपी घटक अपने में समेटे रहते हैं। बेटीला ने दोनों में समान रूप से जो विशिष्टता का उल्लेख किया है वह यह है कि सभी कमोबेश हिन्दू सभ्यता के दायरे से बाहर खड़े हैं।

बेली ने इस विशिष्टता को किसी समुदाय के जमीन से जो संबंध होता है, उसकी रोशनी में समझाने का प्रयास किया है। वह कहते हैं कि जिस किसी समाज की जितनी बड़ी जनसंख्या की प्रत्यक्ष पहुंच जमीन तक होगी वह समाज सांतत्यक के जनजातीय छोर के उतना ही समीप होगा और जिस समाज में जितने ज्यादा लोगों को जमीन का हक निर्भरता के संबंध के जरिए हासिल होता है वह समाज जाति भूमिका के उतने ही नजदीक आ जाता है।

बेली की इस प्रस्थापना की आलोचना में सुरजीत सिन्हा ने जनजाति की एक और विशिष्टता बताई है। उनके अनुसार जनजाति पारिस्थितिकी, अर्थव्यवस्था, राजनीति में अन्य जातीय समूहों से पृथक होती है। यह पार्थक्य उसमें एक प्रबल अंतःसमूह की भावना उत्पन्न करता है और यही भावना इस पार्थक्य को और मजबूत बनाती है। वह अपनी संस्कृति को अन्य समूहों की संस्कृति से स्वतंत्र मानती है। इसके फलस्वरूप वह वस्तुनिष्ठ वास्तविकता और व्यक्तिनिष्ठ जागरुकता के मामले में भारतीय सभ्यता की महान परंपराओं से अलग हो जाती है। जैसे, समानता की एक मूल्य व्यवस्था, मानवीय, प्राकृतिक और अलौकिक विश्व की निकटता, विचारों की व्यवस्थापना का अभाव, संस्कृति का एक जटिल स्तर, नैतिक धर्म और कठोर तपस्या, इन सबसे उसका संबंध नहीं रहता। इसके विपरीत जाति को उससे अभिन्न रूप से जुड़ा विषमांगी स्तरित समूह के रूप में देखा जाता है जिसकी विशेषता स्थानीय समुदाय के बीच बहुजातीय रहन-सहन और अर्थव्यवस्था में अंतः जातीय सहभागिता है।

10.2.2 जनजातियों का रूपांतरण

जनजातियों के समाज पर एक बड़ी बहस जनजातियों के जाति में रूपांतरण और जाति संरचना में उनका उत्तरोत्तर अंतर्लयन को लेकर रही है। यह अमूमन इन प्रक्रियाओं के जरिए होता है:

i) प्रौद्योगिकी का अपनाया जाना

ii) संस्कृतिकरण

iii) राज्य का बनना

iv) हिन्दूकरण

v) भाषा

vi) धर्म

इसके पश्चात जनजातियों का देहाती और सामाजिक रूप से विभेदित समाजों में रूपांतरण होता है। मगर यह दृष्टिकोण जनजाति को उनके प्राकृतिक स्वरूप और समुदायों के रूप में जानने और उनके अध्ययन को अनदेखा करता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए आजकल जनजातियों का अध्ययन जातीयता के नजरिए से करने के प्रयास किए जा रहे हैं, जिससे उनके अंत:समूह संबंधों पर गहरी दृष्टि मिल सके और यह जाना जाए कि जनजातियां क्यों अपने आपको अन्य से विपरीत और भिन्न समझती हैं। इस सिद्धांत की मुख्य विशेषता जन समूहों और श्रेणियों का निर्धारण और चिन्हांकन तथा व्यतिरेक का प्रयोग है। इसमें स्व-पहचान, वर्ग रूढ़िकरण, संसाधन स्पर्धा, राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व और परिवर्तन, सांस्कृतिक स्थायित्व और सीमाओं का निर्माण जो लोगों को तरह-तरह से अलग रखने और बांधने दोनों का काम करते हैं, इन सबका अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है।

10.3 पूर्वोत्तर की जातीय संरचना

पूर्वोत्तर भारत एक सुस्पष्ट भूभाग है। इसकी बहुविध और विषमांगी, भौगोलिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहचान है। यह भूभाग एक जातीय-सांस्कृतिक सीमांत है जो अपने में भारत की समृद्ध मगर अज्ञात मंगोल विरासत को समेटे है, जो भाषायी, नस्लीय और धार्मिक धाराओं का एक जटिल संक्रमण क्षेत्र है। यह एक अनूठा जैव-भौगोलिक सीमांत भी है, जहां भारतीय, चीनी और मलेशियाई-बर्मी नस्लों के संगम ने जैव विविधता के एक अकूत भंडार का सृजन किया है।

देश के विभाजन के बाद एक 'सेतु और मध्यवर्ती' (ब्रिज ऐंड बफर) अंचल के रूप में इसकी भूमिका भी बदल गई क्योंकि विभाजन ने उत्तर-पूर्व को समग्र मुख्य भारत से अलग कर दिया। आज इसकी 3,000 किमी लंबी सीमा चीन, म्यानमार (बर्मा), बांग्लादेश, भूटान इत्यादि देशों से मिलती है और यह एक संकीर्ण गलियारे के जरिए भारत से जुड़ा है। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार, इस प्रदेश की कुल जनसंख्या 3 करोड़ 14 लाख थी जो देश की जनसंख्या का 3.70 प्रतिशत अंश है।

यह भूभाग सात राज्यों से मिलकर बना है। ये राज्य हैं: अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड और त्रिपुरा। भूभाग की दृष्टि से हम इस क्षेत्र को दो उप-प्रदेशों में बांट सकते हैं: (क) ब्रह्मपुत्र, बरक, इम्फाल नदियों के मैदान और (ख) विशाल पर्वतीय भूभाग जो पूरे क्षेत्र का 72 प्रतिशत भाग है। अरुणाचल, नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा, मेघालय और असम अमूमन पहाड़ी हैं लेकिन असम, मणिपुर और त्रिपुरा का कुछ भाग मैदानी हैं। जनजातीय और गैर जनजातीय आबादी के बीच विभाजन भी इसी आधार पर होता है। साठ लाख की आबादी वाली जनजातियां मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश के पहाड़ी राज्यों के 80 प्रतिशत भूभाग में रहती हैं (असम इसका अपवाद है)। गैर जनजातीय लोग मैदानी इलाकों में रहते हैं। अधिकांश जनजातीय लोग मंगोल मूल के हैं जबकि मैदानवासी अपने को काकेशियाई मूल का मानते हैं जो विभिन्न युगों में वहां आ बसे थे।

10.3.1 पूर्वोत्तर की जनजातीय आबादी

पूर्वोत्तर की जनजातीय आबादी में भारी विषमता और विविधता देखने में आती है। यहां सौ से ज्यादा जनजातियां समूह है जिनकी अपनी अलग भाषा, अनुष्ठान, विश्वास, धर्म और सांस्कृतिक पैटर्न हैं। इसी प्रकार पीपुल ऑफ इंडिया भाग IX के अनुसार जो 325 भाषाएं भारत में बोली जाती हैं, उनमें से सबसे ज्यादा भाषाएं तिब्बती-बर्मी कुल की हैं और इनमें से 175 भाषाएं पूर्वोत्तर के समुदाय बोलते हैं। यह विषमता हमें प्रचलित रीति-रिवाजों, विशेषकर मातृवंशीय और पितृवंशीय जनजातियों में मौजूद अंतर में भी

दिखाई देती है। विभिन्न जनजातीय समूहों में पाई जाने वाली समानताएं उनके पारंपरिक आर्थिक पैटर्नों के संरक्षण, झूम खेती, सामाजिक और सांस्कृतिक पैटर्नों में नजर आती हैं। इसी प्रकार आधुनिकीकरण के प्रति उनकी प्रतिक्रिया और उनमें जातीय चेतना का विकास, ये दोनों उन्हें एक दूसरे से एक प्रकार के बंधन में बांधते हैं। पूर्वोत्तर राज्यों की बनावट इस प्रकार है:

i) *मिजोरम* की 94.26 प्रतिशत आबादी जनजातीय है। मिजो इतिहास की श्रुति परंपरा के अनुसार उनके पूर्वजों ने दूर चीन में चुनलुंग नामक कंदरा या चट्टान में जन्म लिया था, जहां से वे तिब्बत के रास्ते होते हुए बर्मा की हुकवांग घाटी में आ बसे और अंततः 18वीं सदी में लुशाई पहाड़ियों में प्रवेश कर गए। मगर मिजो लोगों नें लंबे समय तक बाहरी दुनिया से अपनी दूरी बनाए रखी। अट्ठारहवीं सदी में वे ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बने। मिजो शब्द का अर्थ पहाड़ी लोग है, जिसमें लुशाई राल्टे, हुमार, पावी, पोल, लाकर्सी समेत पंद्रह जनजातियां आती हैं जो मिलकर मिजो पहचान बनाती हैं। इस प्रक्रिया को दो महत्वपूर्ण कारकों ने सहज बनाया। ये थे: ईसाई धर्म और लुएसी भाषा की डबलीन बोली का अपनाया जाना। इस बोली की लिपि रोमन थी। मिजोरम के दो उपप्रदेश हैं। पहला उपप्रदेश ईसाई धर्म से प्रभावित लुशाई पहाड़ियां हैं। इसमें अधिकांश मिजो समूह आते हैं। दूसरा उपभाग बौद्ध चकमा और माघ और हिन्दू धर्म से प्रभावित रियांग जनजातियों का है, जो चिटगांव पहाड़ियों से सटी पश्चिमी पट्टी में रहती हैं।

ii) *नागालैंड* राज्य की 88.61 प्रतिशत जनसंख्या जनजातीय है। नागा एक सामान्य जातिगत शब्द है जिसका अर्थ योद्धा होता है। यह 32 जनजातियों के समूह के लिए प्रयोग होता है जिनमें से पांच बर्मा में बसी हैं। शेष नागालैंड (16), मणिपुर (सात), अरुणाचल प्रदेश में तिरुपुरा और असम के उत्तरी कछार और कार्बी अंगलोंग जिले में पाई जाती हैं। नागाओं में महत्वपूर्ण जनजातियां अंगामी, आओल चाकेसंग, संगटम, मोतीकुमी, यिमचुंगे हैं। ये जनजातियां अपनी अलग तिब्बती-बर्मी बोलियां बोलते हैं और आपस में नगमी भाषा का प्रयोग करते हैं। ये ईसाई धर्म मानते हैं, जिसने इनमें एकता की भावना पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार जातीय-भाषाई और सांस्कृतिक दृष्टि से नागा जनजातियां अपनी आंतरिक एकरूपता और अंतरा सामुदायिक समांगता को बनाए रखती हैं मगर इनमें बड़ा समूह बनाने का रुझान देखने में आया है। जैसे: 1974 में जेमी, लैंगमेई और रोंगमेई जैसी समान विशेषताओं वाली जनजातियों ने मिलकर जेलियांग्रोंग समूह बनाया और सापो, केछू और खूरी जनजातियां पोछुरी बन गई।

iii) *मेघालय* राज्य की सबसे बड़ी विशेषता इसका मातृवंशीय समाज है। यह पूर्वोत्तर का अपेक्षतया अधिक शांतिपूर्ण राज्य है। राज्य की 80.84 प्रतिशत आबादी जनजातियों की हैं। इनमें गारो, खासी और जैन्टिया जनजातियां मुख्य हैं। लोडो तिब्बती-बर्मी मूल की गारो जनजाति पिछले चार सौ वर्षों से गारो पहाड़ियों में रह रही हैं। गारो लोग पांच मातृवंशी गोत्रों में बंटे हैं। इनमें संगमा और मराक सबसे प्रमुख हैं। गोत्र का मुखिया या परिवार का *नोकमा* सबसे छोटी बेटी होती है जिसका पति संपत्ति की देख-रेख, उसका संचालन करता है।

खासी लोग मोन खमेर समूह के हैं। ये भी मातृवंशी हैं। इनमें मामा का भारी नियंत्रण और प्रभुत्व रहता है। 25 खासी प्रदेशों को सोलह लीमा या क्षेत्रों में बांटा गया था। प्रत्येक लीमा का एक *सियाइम* या सरदार था। लीमा के बाद तीन अर्द्ध-स्वायत्त इकाइयां आती हैं जो लिंडोह, पांच सूबेदारों और एक वहादार के अधीन होती हैं। *जैन्तिया* भी सिन्टैक्स या पनार लोगों के लिए प्रयोग होने वाला सामान्य शब्द है ये भी मातृवंशी जनजातियां हैं और इनमें उत्तराधिकार *मामा* से *भांजे* को मिलता है। जैंतियों पर हिन्दुत्व और इस्लाम को बड़ा प्रभाव है, लेकिन इनमें ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या सबसे ज्यादा 47 प्रतिशत है। वहीं सेंग-खासी जैसे पुनरुत्थानवादी आंदोलनों ने समाज को पारंपरिक जनजातीय रीति-रिवाजों, धर्म और त्योहारों की ओर लौटाने का प्रयास भी किया है।

iv) *मणिपुर* उत्तर-पूर्व का एक प्राचीन राज्य है। इस राज्य को अठारहवीं सदी के राजा गरीब नवाज के शासनकाल में ख्याति मिली। तब यहां का राज्य धर्म वैष्णव था। इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण जनजातियां मैती, मरांग, लुयांग, खुमान, हैं। इनमें हिन्दू मैती सबसे शक्तिशाली और प्रभावी जनजाति है। यह संभवतः तिब्बती-बर्मी मूल की है और इसमें सात गोत्र हैं जिन्हें सलई-निंगयाउजा, लुवांग, खुमान, मोइरंग, अंगोम, खाबानगानिया और चेंगलेई के स्थानीय नामों से जाना जाता है। मणिपुर की अन्य

महत्वपूर्ण जनजातीय समुदाय ऐमोल, अनाल, अंगामी, चीरू, गंगटे, हमार, कबुई, काचा, कोइराओ, कियोरेंग, कोम, लामगांग, मर्रम, मार्रिंग, माओ मोनसंग, मोयोन, सेमा, टंगखुल इत्यादि हैं। मगर इन जनजातियों को मोटे तौर दो समूहों में बांटा जाता है। ये हैं— नागा और कुकी या कुकी चिन क्योंकि इन्हें वहां इन्हीं नामों से जाना जाता है और ये मणिपुर के पहाड़ी भागों, कछार, लेठा और बर्मा की अरकान पहाड़ियों में बसी हुई हैं। मणिपुर की 60 प्रतिशत आबादी हिन्दू है, शेष ईसाई और कुछ मुस्लिम है।

v) *अरुणाचल प्रदेश* को पहले 'नेफा' कहा जाता था, जिसकी आबादी का 79.02 प्रतिशत जनजातियां हैं। इसमें लगभग 110 जनजातियां हैं जिनमें 26 जनजातियां अधिक ज्ञात हैं। इनमें मुख्य जनजातीय समूह बफला और बंगनी, मिन्योंग, मिशमी, नोक्टे, अपाटानी, मिरी, अका, श्रोदुकपेन, मिकिर, टेंगिया हैं। शेष पूवोत्तर की तुलना में अरुणाचल प्रदेश अधिक दूर और अलग है।

vi) *असम* बड़ा राज्य है जिसमें जनजातियों की संख्या कुल 10.99 प्रतिशत है जो ब्रह्मपुत्र के मैदानो में रहती हैं। यहां की महत्वपूर्ण जनजातियां अहोम, बोडो-कचारी, रबा, मेच, जोजई, लेलुंग, मिकिर इत्यादि हैं। इनमें से अधिकांश जनजातियों का हिन्दू धर्म में अतंर्लयन हो गया है और वे जनजाति से जाति की ओर संक्रमण को दर्शाती हैं।

vii) *त्रिपुरा* राज्य पश्चिमोत्तर से दक्षिणोत्तर में छोटी पहाड़ियों की छह शृंखलाओं से घिरा है जिनकी ऊंचाई 100 से 3000 फुट तक है। इन पहाड़ियों की ऊंचाई दक्षिण-पश्चिम दिशा से पूर्वोत्तर की ओर बढ़ती है, जबकि इन पहाड़ियों के छोरों पर मैदानी पट्टियां हैं। यहां कुल अट्ठारह जनजातियां रहती हैं जो अमूमन तिब्बती-बर्मी मूल की हैं। इनमें ज्यादातर जनजातियां हिन्दू हैं और दो बौद्ध जनजातियां चकमा और माघ तथा छह बागानों में रहने वाली जनजातियां हैं। इनमें मुख्य त्रिपुरी (जो बोडो मूल के हैं), रियांग, नाओतिया और हलाम जनजातियां हैं।

10.4 पूर्वोत्तर की जनजातीयों में सामाजिक स्तरीकरण

यहां सामाजिक स्तरीकरण के दो मुख्य आयाम हैं। इनमें एक आयु, लिंग, नातेदारी इत्यादि पर आधारित स्तरीकरण की पारंपरिक व्यवस्था है और दूसरा है आधुनिकीकरण की अनेक प्रक्रियाओं के प्रभाव के फलस्वरूप समाज में उभरता स्तरीकरण। जैसे: शिक्षा, औद्योगीकरण, व्यावसायिक विभेदन, स्थिति क्रम परंपराएं जिनके मूल में संसदीय लोकतंत्र, सरकारी नौकरी इत्यादि कारक हैं जो समाज को नए वर्गों और स्थिति क्रम परंपराओं में स्तरित करते हैं।

पारंपरिक दृष्टि से पूर्वोत्तर की जनजातियां समरूप समतावादी इकाइयां नहीं रही हैं। यहां कि विभिन्न जनजातियों में स्तरीकरण उत्पन्न होने के पीछे अनेक कारकों का योगदान रहा है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण वंशावली, जमीन से संबंध, आनुष्ठानिक स्थिति, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व की स्थिति हैं। अब ये कारक जिस रूप में मौजूद होंगे उसी के अनुसार विभिन्न जनजातीय समूहों में क्रम परंपराएं बनेंगी और उनका शाश्वतीकरण होगा और एक जनजातीय समूह का अन्य समूह पर प्रभुत्व भी तय होगा। उदाहरण के लिए, गारो जनजाति में झूम खेती की जमीन और गृहभूखंड को सात वंशों (महारियों) की संपत्ति माना जाता था, जिन्हें राजा का दर्जा प्राप्त था।

बॉक्स 10.01

राजा के बंदोबस्ती का अधिकार एक खास कुल को प्राप्त होता है। इसी प्रकार खासी लोगों में कबीले का हर सदस्य कबीले की सामूहिक जमीन *राई* पर अपना हक मांग सकता था। लेकिन *राई क्यांति* भूमि कुछ विशिष्ट कुलों के उपयोग के लिए होती थी जिस पर उन्हें मालिकाना, आनुवंशिक और हस्तांतरणीय अधिकार होता था। एक अध्ययन में यह देखने में आया है कि 22.2 प्रतिशत परिवारों का गांव की 70 प्रतिशत जमीन पर नियंत्रण था, शेष 30 प्रतिशत जमीन पर 54 प्रतिशत परिवारों का अधिकार था और बाकी के जो 24 प्रतिशत परिवार थे उनके पास कोई जमीन नहीं थी।

10.4.1 मिजो प्रशासन-प्रणाली

मिजो लोगों की अपने सरदारों के तहत एक सु-स्थापित शासन प्रणाली थी। गांव के जीवन के सभी कार्य-कलाप सरदार और उसके घर के इर्दगिर्द होते थे, जो उसका शासक होता था। सरदार के बेटे का विवाह होने पर सरदार उसे कुछ घर सौंप देता था जिससे कि वह अपना गांव खुद बसाए और स्वतंत्र होकर उस पर राज करे। साधारणतया कुल के अनुसार सरदार का बड़ा या छोटा बेटा उसी के पास रहता था जो सरदार की मृत्यु होने पर उसकी गद्दी और संपत्ति का उत्तराधिकारी होता था।

साइलो लोगों में आनुवंशिक उत्तराधिकार सबसे छोटे जबकि पैइट कबीले में सबसे बड़े बेटे को मिलता था। प्रशासन का काम-काज चलाने के लिए सरदार को सयाने लोग सभी मदद देते हैं जिन्हें उपा कहते हैं। इसी तरह युवा लोगों के लिए *सहप्रांगण* होता था जिसे *जौलबुक* कहा जाता था। उपा के सदस्यों को झूम के लिए खेतों के चुनाव में वरीयता दी जाती थी और सरदार द्वारा आयोजित किए जाने वाले भोजों या समारोहों में उन्हें महत्व दिया जाता था। गांव के महत्वपूर्ण अधिकारियों या कर्मियों में मुख्य त्लांगाऊ (गांव की रुदाली), थिरदेंदिंग (लोहार) और पुईथियाम (पुरोहित) होते थे। प्रत्येक कर्मी को गांव के सदस्यों के लिए किए जाने वाले काम के एवज में एक टोकरा धान दिया जाता था। इसी तरह जौलबुक भी एक महत्वपूर्ण संस्था थी।

मिजो सरदारों को कुछ अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त थे, जैसे वह (i) फथंग (धान पर कर), (ii) स्छिया (मांस कर), (iii) सलाम (जुर्माने के रूप में भेंट) लेता था और (iv) उसके घर का निर्माण और मरम्मत उसके कहने पर की जाती थी। इसके अलावा वह रमहुआल और सलेन कहे जाने वाले किसानों के एक विशेष वर्ग को विशेषाधिकार भी प्रदान करता था, जिन्हें झूम खेतों को चुनने का सबसे पहले मौका दिया जाता था।

मगर स्वतंत्रता के बाद आंतरिक संघर्ष, जागरुकता, नगरीकरण में वृद्धि और अपेक्षाओं-आकांक्षाओं से भरे मध्यम वर्ग के उदय के फलस्वरूप सरदारशाही संस्था समाप्त हो गई और उसकी जगह वर्ग और अन्य उभरते हितों पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण ने ले ली।

10.4.2 नागाओं में सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा

इस तरह की असमानता नागाओं में भी सत्ताधिकार, प्रतिष्ठा और संपदा के असमान वितरण के रूप में विद्यमान थी। इन्हें *योग्यता भोज* के जरिए अर्जित किया जाता था, जिसमें नष्ट हो जाने वाले भोज्य पदार्थों को कबीले के सदस्यों में बांट दिया जाता था। इसका एक सामाजिक प्रकार्य यह था कि यह युद्ध और शांति दोनों के दौरान सांकेतिक प्रतिष्ठा अर्जित करने और सम्मानित गठबंधन स्थापित करने का अवसर देता था। उदाहरण के लिए, नागा लोग (i) केकामी (सरदार), (ii) चोकोभी (छोटे सरदार), (iii) मुघामी (अनाथ या जनसाधारण), अकाहेमी (सरदार के आश्रित या परिजन) और (v) अनुकेशिमी (सरदार के खेत जोतने वाले किसान)। हैमेनडॉर्फ बताते हैं कि सरदारशाही क्नोयक कबीले में रक्त पवित्रता के सिद्धांत पर जीवित रही है।

> **अभ्यास 1**
>
> नागाओं में सत्ताधिकार और प्रतिष्ठा पूर्वोत्तर के अन्य जनजातीय समूहों से किस तरह से भिन्न या समान हैं? अध्ययन केन्द्र में अपने सहपाठियों के साथ इस विषय पर विचार-विमर्श करें और आपको जो भी जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

हैमनडॉर्फ ने अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों का गहराई से जो अध्ययन किया है उससे इनमें भी इसी तरह के रुझानों का पता चलता है। इस राज्य की सबसे महत्वपूर्ण जनजाति अपटानी है, जो सात गांवों में बसी है। प्रत्येक गांव में 160 से 1000 घर हैं। अपटानी किसान हैं और उनका समाज बड़ी कठोरता से स्तरित है। इनमें मुख्यतः दो वर्ग हैं जो स्थिति या हैसियत में एक दूसरे से भिन्न हैं। इनमें एक उच्च वर्ग

है जिसके सदस्य जमीन के बड़े हिस्से के स्वामी हैं और अपने वर्ग और गांवों में राजनीतिक शक्ति रखते हैं। दूसरा निम्न वर्ग है जिसमें कुछ व्यक्ति जमीन के स्वामी हैं तो शेष घर-दास है। यानी ये मुख्यत: माटे, मिटे-गुथ (कुलीन वर्ग) और मुरा, कुची (दास/जनसाधारण) में बंटे हैं।

जैंतिया कबीले में भी एक विस्तृत स्तरीकरण प्रणाली प्रचलित थी। इसके लोग इन वर्गों में विभाजित थे:

i) राजा

ii) डोलोई (गवर्नर)

iii) वाहेन चनोंग (गांव का प्रधान)

iv) माइंतिए, पाटस, लस्कर, संगत, माजी (ये जनसाधारण हैं और इनमें सभी शामिल हैं)।

तिलपुत नोंगब्री ने जनजातियों में स्तरीकरण प्रणाली के एक रोचक पहलू पर जेंडर (सामाजिक लिंग) की रोशनी में दृष्टिपात किया है। वह कहती हैं कि पारंपरिक जनजातीय नियम भी गैर जनजातीय समाजों की तरह महिलाओं को संपत्ति पर बराबरी का अधिकार नहीं देते हैं। उनके साथ यह भेदभाव विशेषकर उत्तराधिकार के नियमों में किया जाता है, जिनमें उन्हें सिर्फ भरण-पोषण और खर्च का अधिकार प्राप्त है। मातृवंशीय समाज में भी जमीन को लेकर 'स्वामित्व' और 'नियंत्रण' के बीच भारी भेद है। इसलिए जमीन का स्वामित्व तो महिला को मिलता है लेकिन उसका नियंत्रण और संचालन पुरुषों के हाथ में रहता है। खासी, जैंतिया, गारो, राभा इत्यादि जनजातियों में ये नियम प्रचलित हैं। इसी प्रकार जिन पितृसत्तात्मक समाजों में महिलाओं को भोगाधिकारी का अधिकार प्राप्त है वहां भी उन पर कई शर्तें थोप दी जाती हैं। जैसे, उन्हें अविवाहित रहना पड़ता है, या उनके कोई भाई न हो, या वे विधवा हों और उन्हें उनकी इच्छा विरुद्ध ऐसे व्यक्ति से विवाह करने के लिए बाध्य कर दिया जाता है जिसे लोग चुनते हैं। इसी प्रकार सामुदायिक संपत्ति संसाधनों के आबंटन और संचालन को लेकर भी महिलाओं को पूर्वाग्रह का सामना करना पड़ता है। उन्हें विवाह और तलाक के मामले में भी भेदभाव का सामना करना पड़ता है। वधू-मोल की प्रथा ने उन्हें खरीद की वस्तु जैसा बना दिया है जो उनके लिए अपमानजनक है। महिलाएं विशेषकर जब कबीले से बाहर गैर-जनजातीय व्यक्तियों से ब्याह रचाती हैं तो उन्हें वंश समूह और जातीय पहचान के लिए खतरा समझ लिया जाता है क्योंकि इससे उनके समाज पर अप्रत्यक्ष जनसांख्यकीय प्रभाव पड़ते हैं। इसके कारण कई पुरुष चाहते हैं कि उनके समाज में प्रचलित उत्तराधिकार की मातृवंशीय व्यवस्था को पितृवंशीय व्यवस्था में बदल दिया जाए। मगर इससे मातृवंशीय व्यवस्था का आधार कमजोर हो जाएगा।

10.4.3 पारंपरिक श्रेणीकरण प्रणाली

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न जनजातियों की सामाजिक श्रेणीकरण की सुव्यवस्थित और अलग-अलग पारंपरिक प्रणालियां हैं जिन्हें उनकी विशिष्ट पारिस्थितिकी और ऐतिहासिक परिस्थितियां तय करती हैं। औपनिवेशिक शासन का आरंभ और देश के स्वतंत्र होने पर इसकी समाप्ति से अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन आए जिन्होंने पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों की दुनिया को हिला दिया, जिसे अभी तक बड़ी ही सावधानी से सुरक्षित और अपेक्षतया पृथक रखा गया था। जैसे, जनजातियों को औपनिवेशिक प्रशासनिक प्रणाली से जोड़ना, जिसके फलस्वरूप इनका बाहरी विश्व से संपर्क बढ़ा, ईसाई मिशनरियों का आगमन, बाजार व्यवस्था का चलन, प्रशासनिक और राजनीतिक सुविधा के लिए अंग्रेजों का जनजातियों में प्रचलित स्थिति क्रम परंपरा को औपचारिक रूप देना और उसे सुदृढ़ बनाना, जनजातियों के हित में रक्षात्मक भेदभाव की नीति और पिछड़े इलाकों में विकास योजनाएं लागू करना और आखिर में स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सहभागिता। इन सबके फलस्वरूप कई स्तरों पर परिवर्तन आए हैं।

बोध प्रश्न 1

1) मिजो प्रशासनिक प्रणाली पर पांच पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

2) पूर्वोत्तर में जैंतिया और खासी जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण के बारे में बताइए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

इन सबके फलस्वरूप सामाजिक स्तरीकरण की पारंपरिक प्रणाली कमजोर हुई, नए सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक हित उभरे और उनसे जुड़ी विषमताएं भी उत्पन्न हुई जिनके साथ-साथ समाज में वर्ग स्थान का महत्व बढ़ता गया। इस प्रकार प्रदत्त स्थिति के सह-अस्तित्व में अर्जित स्थिति ने उसे मजबूत बनाने और उसे बदलने दोनों का काम किया है और वह एक महत्वपूर्ण कारक बन गया है।

बॉक्स 10.02

एक नए मध्यम वर्ग, ठेकेदारों, बिचौलियों व्यापारियों और राजनीतिज्ञों का उदय हुआ, जो स्थानीय, जनपदीय, राज्य या राष्ट्रीय स्तर पर काम करते हैं। इन सबने मिलकर जनजातीय समाज को वर्ग के आधार पर बांटा। लेकिन परंपरागत रूप से जिन वर्गों को आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से प्रभावी दर्जा हासिल था उन्होंने नए परिवेश में ऊंचा दर्जा हासिल करने के लिए अपनी आरंभिक स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। इन सब परस्पर प्रभावी क्रियाओं ने एक ऐसे समाज की रचना की है जो स्तरित और प्रदेश, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर तमाम राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक रुझानों से जुड़ा हुआ है।

मगर वहीं इन सब कारकों ने ही एक विशिष्ट पहचान को बचाए रखने और उसे जोरदार ढंग से अभिव्यक्ति देने की जरूरत भी इन जनजातियों में पैदा की।

10.5 पूर्वोत्तर में जनजातीय आंदोलन

पूर्वोत्तर के जनजातिय आंदोलनों की विशिष्टता और अन्य क्षेत्रों के जनजातीय आंदोलनों से भिन्न इसके चरित्र को समझने के लिए पहले हमें यह ध्यान में रखकर चलना होगा कि पूर्वोत्तर की जनजातियों की एक विशिष्ट अनूठी भू-राजनीतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। इस पृष्ठभूमि के कारक इस प्रकार हैं:

i) अंतरराष्ट्रीय सीमाओं पर बसे होने के कारण इनमें से कई जनजातियों ने सेतु और मध्यवर्ती समुदायों की भूमिका निभाई और इसी कारण सीमा पार के कुछ विशेष जन समूहों से उनके संबंध बन गए।

ii) ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने इन जनजातियों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से शेष देश से पृथक रखने की नीति अपनायी। उन्होंने जनजातीय क्षेत्रों को अपवर्जित और अंशत: अपवर्जित क्षेत्रों में बांटा और इन क्षेत्रों में बाहरी व्यक्तियों के आवागमन को बड़ी कड़ाई से नियमित किया। खासकर अपवर्जित क्षेत्रों में तो कोई बाहरी व्यक्ति परमिट के बगैर प्रवेश कर ही नहीं सकता था। यही कारण है कि ये क्षेत्र भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के प्रभाव से कमोबेश अछूते रहे। बल्कि स्वतंत्र भारत में ये अपनी अलग पहचान और राजनीतिक स्वायत्तता को बनाए रख पाएंगे या नहीं इसको लेकर भी उनमें आंशकाएं घर कर गईं।

iii) मध्य भारत की जनजातियों के विपरीत त्रिपुरा को छोड़ बाकी समूचे पूर्वोत्तर में जनजातियां बहुसंख्यक हैं। पड़ोसियों के साथ आर्थिक और सामाजिक शोषणात्मक चंगुल से मुक्त होने के कारण उन्हें अपनी जमीन और जंगलों से बेदखली जैसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। इसलिए इन्हें देश के अन्य भागों की जनजातियों की तरह किसान आंदोलनों की आवश्यकता नहीं पड़ी।

iv) ईसाई धर्म और मिशनरी शिक्षा के प्रसार ने यहां की जनजातियों को अपनी विशिष्ट पहचान का बोध दिया और स्वतंत्र भारत में अपने भविष्य को लेकर उन्हें शंकालु बनाया।

v) द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव जैसा कि युद्ध भूमि, पूर्वोत्तर में इन जनजातियों की वासभूमि के समीप ही थी।

vi) भारत के स्वतंत्र होने के बढ़ते आसार और उसके फलस्वरूप राजनीतिक चेतना और संघर्ष में वृद्धि।

vii) स्वतंत्रता के पश्चात यहां की जनजातियों और बाहरी लोगों में असीमित संपर्क। अनेक व्यापारी, शरणार्थी और अन्य प्रवासी लोग पूर्वोत्तर में आ बसे और उन्होंने भूमि और संसाधनों को हासिल कर लिया। इससे जनजतियों में यह भय उत्पन्न हो गया कि बाहरी लोग उन पर हावी हो जाएंगे और ये लोग उनसे उनके जंगल और जमीन छीन लेंगे और उन्हें अन्य संसाधनों से भी वंचित कर देंगे।

viii) जनजातीय जीवन और सामाजिक संस्थाओं पर आधुनिकीकरण के प्रभाव फलस्वरूप विशेषकर उभरते मध्यम वर्ग के सदस्यों और पारंपरिक सरदारों के बीच संघर्ष बढ़ा और भूमि नियंत्रण और भूमि संबंध के पारंपरिक स्वरूप भी बदल गए।

अलग-अलग आंदोलनों की खास परिस्थितियों और उद्देश्य के अनुसार इनमें से कई कारकों ने अलग-अलग मिश्रण में विभिन्न जनजातीय आंदोलनों के उद्भव और विकास को प्रभावित किया। इन आंदोलनों की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण इनका आवेग मुख्यत: राजनीतिक रहा है और ये मुख्यत: 'पहचान और सुरक्षा' के मुद्दों पर केन्द्रित रहे हैं। इन आंदोलनों के लक्ष्य स्वायत्तता से लेकर स्वतंत्रता और साधन संवैधानिक से लेकर सशस्त्र विद्रोह रहे हैं। हांलाकि अधिकांश आंदोलन भाषा, लिपि और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के मुद्दों पर केन्द्रित रहे हैं, लेकिन इन आंदोलनों में भी वही राजनीतिक संघर्ष प्रतिबिंबित होता दिखाई देता है। आइए, अब हम कुछ आंदोलनों पर विस्तार से दृष्टि डालकर उनकी विशिष्टता को समझने का प्रयास करेंगे।

उत्तर-पूर्व की एक आदिवासी महिला
साभार : कपिल कुमार

10.5.1 नागा आंदोलन

अनेक कारकों ने नागा आंदोलन को जन्म देने में उत्प्रेरक की भूमिका निभाई। ये कारक इस प्रकार थे:

i) अंग्रेजों से प्राप्त विशेषाधिकारों को खोने का डर,

ii) सांस्कृतिक स्वायत्तता और विशिष्ट जातीय पहचान खोने का खतरा,

iii) पहाड़ियों पर पारंपरिक स्वामित्व को खोने का डर,

iv) ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार

v) नगा पहाड़ियों में औपचारिक शिक्षा का विकास,

vi) जटिल राजनीतिक ताने-बाने का उदय

नागा जातीय पहचान और आंदोलन को प्रखर अभिव्यक्ति हालांकि स्वतंत्रता के बाद ही मिली थी, लेकिन इसके बीज 1918 में कोहिमा में नागा क्लब की स्थापना के साथ ही पड़ गए थे। इस क्लब ने 1929 में साइमन कमीशन को एक ज्ञापन दिया था जिसमें नागा पहाड़ियों पर प्रत्यक्ष ब्रिटिश प्रशासन को जारी रखने के साथ-साथ कई तरह के मुद्दे उठाए गए थे। इस ज्ञापन पर अधिकांश नगा कबीलों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए थे।

नागा पहचान के पुनर्जागरण में अति महत्वपूर्ण भूमिका जापू फिजो ने निभाई, जिन्होंने जापानियों और आजाद हिन्द फौज की इस उम्मीद के साथ मदद की थी कि बदले में उन्हें एक संप्रभु नागा राज्य की स्थापना करने में सहायता मिलेगी। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद इस विषय पर बड़ी जबर्दस्त बहस हुई कि नागा आखिर क्या चाहते हैं। बहस का मुद्दा मुख्यतः स्वायत्तता बनाम स्वतंत्रता थी।

बॉक्स 10.03

असम के गवर्नर ने 29 जून, 1947 को कोहिमा में नागा नेशनल कांउसिल के साथ एक नौ-सूत्री समझौता किया। यह समझौता विवादों से परे नहीं था। विशेषकर इसके उपबंध 9 की व्याख्या को लेकर बड़ा विवाद उठा। नागा लोगों का दावा था कि इसका मतलब 10 वर्ष बाद उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार है। मगर भारत सरकार को लगता था कि समझौते के सभी पहलू संविधान की छठी अनुसूची में सम्मिलित कर लिए गए हैं। नागा नेशनल कांफ्रेंस के कई सदस्य इस समझौते को आजमाना चाहते थे मगर भारत सरकार ने फिजो और अधिकांश नागा नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। अपनी रिहाई के बाद फिजो ने नागा नेशनल कांउसिल का नेतृत्व फिर से संभला और नागा स्वायत्तता के मुद्दे पर 'जनमत संग्रह' कराया। कुछ हजार लोगों के विचार के आधार पर यह घोषणा कर दी गई कि 99 प्रतिशत नागा स्वंतत्रता चाहते हैं।

नागाओं ने 1952 में हुए पहले आम चुनावों और जिला परिषद योजना का बहिष्कार किया। आंदोलन के नेता फिजो ने जब 18 सिंतबर 1954 को 'काउटागा' में एक स्वतंत्र नागालैंड गणतंत्र की सरकार के गठन की घोषणा की तो इस आंदोलन ने हिंसक मोड़ ले लिया। इस प्रक्रिया में साखरी जैसे मध्यमार्गी लोग आंदोलन के हाशिए पर धकेल दिये गये। कुछ ही समय बाद साखरी की हत्या कर दी गई और गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया गया। नागा विद्रोह को कुचलने के लिए केन्द्र सरकार ने 27 अगस्त 1955 को नागरिक प्रशासन की सहायता के लिए राज्य को सेना के हवाले कर दिया। गुरिल्ला संघर्ष धीरे-धीरे कमजोर पड़ गया। लेकिन कठोर सैनिक शासन के अधीन नागा लोगों को दमन और घोर कष्ट झेलने पड़ रहे थे। इस स्थिति ने मध्यमार्गियों को आगे आने का मौका दिया और उन्होंने स्वतंत्रता की मांग छोड़कर भारतीय संघ में एक ऐसे नागालैंड की संभावना को तलाशना शुरू किया जिसे अपनी विरासत और जीवन शैली की रक्षा करने की पूरी स्वतंत्रता हो। अगस्त 1957 में कोहिमा में नागा लोगों की एक सभा बुलायी गयी। इस सभा में नागा पहाड़ियों और नेफा के तुएनसांग जिले के लगभग सभी कबीलों के 760 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। गहन विचार-विमर्श के पश्चात सभा ने भारतीय संघ के तहत एक नागा पहाड़ी - तुएनसांग प्रशासनिक (एन.एच.टी.ए.) इकाई की मांग करने का फैसला किया। फलतः भारत सरकार ने एक स्वायत्त

जिले के रूप में एन.एच.टी.ए का गठन किया जिसके प्रशासन की बागडोर भारत के राष्ट्रपति की ओर से असम के राज्यपाल को सौंपी गई। इस सम्मेलन के बाद दो और सम्मेलन बुलाए गए। अक्तूबर 1959 में विचार-विमर्श के आधार पर भारत सरकार के साथ जुलाई 1960 में एक ऐतिहासिक समझौता हुआ। इस समझौते के तहत एन.एच.टी.ए को नागालैंड का नया नाम देकर 1963 में स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिया जाना तय हुआ। नवगठित राज्य की विधानसभा के चुनाव हुए तो उधर भूमिगत नागा नेताओं के बीच बातचीत, सुलह-समझौते के अनके निष्कर्षपूर्ण दौर चले। फलस्वरूप 1964 में एक शांति मिशन गठित किया गया, जिसके सदस्यों में जयप्रकाश नारायण, बी. पी. कालिका, रेवरेंड माइकल स्कॉट और शांधकारो देव थे। इन सब गतिविधियों और प्रयासों की परिणति 11 नवंबर, 1975 की शिलांग समझौते में हुई। इस समझौते के तहत भूमिगत नागा आंदोलनकारी संगठनों ने भारतीय संविधान को स्वीकार कर लिया, उन्होंने अपने हथियार सौंप दिए। बदले में भारतीय सुरक्षा बलों ने अपनी कारवाई रोक दी और उन्हें आखिरी ससझौते के लिए मुद्दे तय करने के लिए पर्याप्त समय दिया। इस समझौते से राज्य में शांति तो कायम हो गई लेकिन 1980 में गठित नेशनलिस्ट सोशलिस्ट कांउसिल ने एक संप्रभु नागा राष्ट्र के लिए अपना भूमिगत आंदोलन अभी तक नहीं छोड़ा है।

10.5.2 त्रिपुरा में जनजातीय नीति

त्रिपुरा एक ऐसे राज्य का उदाहरण है जिसके शासन की बागडोर एक जनजातीय शासक के हाथों में थी पर उसने ऐसी नीतियां अपनायी जिनके चलते इसके मूल जनजातीय वासी ही यहां अल्पसंख्यक बन गए। इस राज्य में मुख्यत 19 जनजातियां थीं जिनमें सबसे प्रभावी त्रिपुर जनजाति थी। राज्य का राजा इसी जनजाति का था। अनेक ऐतिहासिक कारणों से यहां के अधिकांश जनजातीय लोग हिन्दू धर्म खासकर वैष्णव पंथ के प्रभाव में आए। त्रिपुरा के महाराजा ने आर्थिक कारणों से बंगाली किसानों को त्रिपुरा में झूम खेती की जगह नियमित खेती का विकास करने के लिए बुलाया। बगल के कोमिला, नोआखाली और चिटगांव जिलों में खुद राजा की जमींदारी थी। इन बंगाली किसानों को जिरातिया काश्तकार कहा जाता था। इन्होंने कृषि को विकसित करने के साथ-साथ राज्य के लिए बेहद जरूरी राजस्व भी जुटाया। राजा ने मानवीय दृष्टिकोण से भी बंगाली शरणार्थियों को अपने राज्य में बसने और वनभूमि को कृषि योग्य बनाने की अनुमति दी। इसी प्रकार अनेक उद्यमियों को राज्य में चाय के बागान लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। राज्य में प्रशासन के काम-काज की भाषा बंगाली होने के कारण बंगाली व्यवसायी और सफेदपोश कामगार, अध्यापक और अन्य लोग भी बड़ी संख्या में आ बसें।

अभ्यास 2

अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से त्रिपुरा में जनजातीय नीति पर चर्चा कीजिए। इस चर्चा से आपको जो जानकारी मिलेगी उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

इस प्रक्रिया ने त्रिपुरा के जनसांख्यिक स्वरूप को ही बदल डाला। जिस राज्य में जनजातियों की संख्या 1874 में 64 प्रतिशत थी, वहीं 1911 में उनकी संख्या 36 प्रतिशत रह गई। वर्ष 1931 तक आसाम और बंगाल से आ बसने वाले लोगों की संख्या 1,14,383 हो गई। त्रिपुरा के महाराजा ने 1931 और 1943 की राजकीय घोषणा में 5050 वर्ग कि.मी. का क्षेत्र त्रिपुरा की त्रिपुरी, रेंग, जमाती, नाओती, और हलाम जनजातियों के लिए नियमित खेती के लिए आरक्षित कर दी थी।

बॉक्स 10.04

स्वतंत्रता से पहले ही त्रिपुरा भारतीय संघ में 13 अगस्त 1947 में शामिल हो गया। मगर सिर्फ एक दिशा को छोड़ बाकी सभी दिशाओं से पूर्वी पाकिस्तान (आज का बांगलादेश) से घिरा होने कारण सीमा पार होने वाली सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं, खासकर साम्प्रदायिक दंगों ने त्रिपुरा पर भारी प्रभाव डाला जिसके फलस्वरूप इसमें शरणार्थियों की बाढ़ आं गई। इसका वहां की जनजातियों के लिए एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि राज्य में उनकी जनसंख्या जहां एक ओर बढ़ी मगर वहीं बाहरी लोगों के अनुपात में वह 1971 में कुल 28.44 प्रतिशत ही रह गई।

i) इस जनसांख्यिक बदलाव का सीधा सा परिणाम यह रहा कि अप्रवासियों का जनजीवन के विभिन्न पहलुओं खासकर बाजार और ऋण व्यवस्था के साथ-साथ व्यावसायिक और सेवा क्षेत्रों में वर्चस्व और नियंत्रण बढ़ता गया। इसके फलस्वरूप मूल आदिवासियों को भारी संख्या में भीतर की ओर धकेल दिया गया, भूमि पर दबाव भी बढ़ गया, गिरवियों और कर्ज में भारी वृद्धि हो गई, झूमखेती जिसमें जंगल को काटकर खेती योग्य बनाया जाता था, उस पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया, जनजातीय लोगों से जमीन गैर-जनजातीय लोगों के हाथों में चली गई। इस प्रकार, बदलते जनसांख्यिक संतुलन बाहर से आने वाले लोगों की संख्या में आकस्मिक वृद्धि से उत्पन्न दबाव और शिक्षा के प्रसार, इन सबने मिलकर नए आवेगों, अपेक्षाओं और असंतोष की भावनाओं के मिश्रण को जन्म दिया।

इस असंतोष का पहला परिणाम यह रहा कि 1947 में सेंग क्राक के नाम से एक उग्रपंथी जनजातीय संगठन का गठन कर लिया गया, इसके कुछ समय बाद आदिवासी समिति और त्रिपुरा राज्य आदिमवासी संघ का गठन हुआ। इन दोनों संगठनों ने 1954 में मिलकर आदिवासी संसद बना ली। इधर ईस्टर्न इंडिया ट्राइबल यूनियन (पूर्वी भारत जनजातीय संगठन) ने भी त्रिपुरा में अपनी शाखा खोल ली और 1957 और 1962 में चुनाव लड़े। इसी प्रकार साम्यवादियों ने भी 1947 में राज्य मुक्ति परिषद का गठन किया और जनजातियों के हितों की पैरवी करके त्रिपुरा में अपनी उपस्थिति मजबूत बना ली थी। मगी कम्युनिस्ट पार्टी में विभाजन और उसके पतन के साथ-साथ बदलते समीकरणों में कांग्रेस पार्टी को भी अपने पैर पसारने का भरपूर मौका मिला। इन सबके चलते नई पीढ़ी के लोगों में भारी मोहभंग और असंतोष पैदा हो गया और उन्होंने समाचारण त्रिपुरा के तहत त्रिपुरा उपजाति जूबा समिति (टीयूजेएस) का 10 जून 1967 को गठन कर लिया। इस संगठन के एंजेंडे में मुख्य चार मांगे थी: क) भारतीय संविधान की छठी अनुसूची के तहत जनजातियों के लिए एक स्वायत्त जिला परिषद का गठन, ख) गैर जनजातीय लोगों द्वारा अवैध रूप से हथियाई गई जमीन को जनजातियों को बहाल कर लौटना, ग) केक बारक भाषा को मान्यता, घ) रोमन लिपि को स्वीकृति।

ii) टीयूजेएस ने अपनी मांगों की पूर्ति के लिए जबर्दस्त अभियान छेड़ दिया। आंदोलन, प्रचार, याचिकाओं, धरनों, विरोध प्रदर्शनों के जरिए तमाम उतार-चढ़ावों से गुजरते हुए इसने अपनी पकड़ बनाए रखी और जब 1972 में त्रिपुरा को स्वतत्र राज्य का दर्जा मिला तो यह जनजातियों के उत्थान के लिए कार्य करती रही। मगर 1977 के चुनावों में साम्यवादियों की स्थिति सुधर गई और उन्होंने सरकार बना ली जिससे टीयूजेएस और कांग्रेस दोनों हाशिए में चले गए।

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) की सरकार ने राज्य में जनजातियों की स्थिति को बहाल और उसे मजबूत करने के लिए कई कदम उठाए। जैसे, केक-बारक भाषा को मान्यता दी, अवैध रूप से हथियाई गई जमीन को मूल जनजातीय लोगों को लौटाने के लिए कृषि कानून लागू किया, और स्वायत्त पर्वतीय परिषद् के गठन की प्रक्रिया आरंभ की। इन कदमों का जनजातियों और टीयूजेएस के मध्यमार्गियों ने स्वागत तो किया मगर इसके घटते प्रभाव से चिंतित चरमपंथी नेताओं ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। बल्कि उनके नेतृत्व की कमान ईसाई मिशनरी विजय कुमार रैंखेल ने अपने हाथ में ले ली। रैंखेल ने ईसाइयत के धार्मिक बंधन को जनजातियों में एकता लाने और उसे प्रबलता से व्यक्त करने की माध्यम बनाया। उन्होंने टीयूजेएस के कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए मिजो नेशनल फ्रंट की सहायता ली। वह त्रिपुरा ट्राइबल नेशनल फ्रंट और त्रिपुरा सेना के स्वयंभू नेता बन गए। त्रिपुरा का भारत से अलगाव और स्वतंत्रता उनका मुख्य ध्येय बन गया। त्रिपुरा अलगावादी आंदोलन में दुबारा उफान मणिपुर, मेघालय और असम में बाहरी लोगों के विरुद्ध चल रहे आंदोलनों के दौर के साथ आया। टीयूजेएस ने मार्च 1980 में एक सम्मेलन किया जिसमें उन तमाम विदेशियों को राज्य से बाहर निकालने की मांग उठाई गई जो 15 अक्तूबर 1949 के बाद वहां बसे थे। आंदोलन का हिंसक दौर विदेशियों विशेषकर व्यापारियों के बहिष्कार और उनके विरुद्ध सरकारी दफ्तर के सामने विरोध प्रदर्शनों के आह्वान के साथ शुरू हुआ। बंगालियों और अन्य प्रवासियों पर हिंसक हमले हुए जिन्होंने इस आंदोलन का विरोध अरमा बंगाली से किया। एक महीने के अंदर हिंसा नें नरसंहार का वीभत्स रूप ले लिया। यह हिंसा लेंबुचेरा कांड से भड़की।

iii) केन्द्र सरकार ने त्रिपुरा पर दिनेश सिंह समिति बैठाई। इस समिति की राय थी कि त्रिपुरा की समस्या का वास्तविक समाधान क्षेत्र के आर्थिक विकास में है। मूल आदिवासी समाज में व्यापारियों, जमीन हथियाने वालों, शरणार्थियों और ईसाई मिशनरियों की जनजातीय समाज में घुसपैठ के फलस्वरूप राज्य में जो परिवर्तन आया था उसकी ओर समिति ने ध्यान दिया। समिति ने अपनी सिफारिशों में समस्या के समाधान के लिए तात्कालिक और दूरगामी उपायों की एक लंबी-चौड़ी फेहरिसत दी। इनमें मुख्य था विषमताओं को दूर करना, मूल जनजातीय लोगों को उनकी जमीन बहाल करना और उनका पुनर्वास करना। टीयूजेएस ने रैंखेल के नेतृत्व वाले उग्रपंथी त्रिपुरा नेशनल वॉलंटियर्स से नाता तोड़ लिया और उसने दिनेश सिंह समिति की सिफारिशों को लागू करने, जून में हुई हिंसा की न्यायिक जांच कराने और एक जनजातीय अंचल स्वायत्त परिषद् (ट्राइबल एरिया ऑटोनॉमस कांउसिल) के गठन के लिए शांतिपूर्ण आंदोलन का आह्वान किया। विदेशी विरोधी आंदोलन को रोक दिया। कुछ समय तक कठोर संघर्ष करने के बाद त्रिपुरा नेशनल वॉलंटियर्स (टीएनवी) के उग्रपंथियों ने भी आखिरकार 12 अगस्त 1988 को भारत सरकार से समझौता कर लिया। इस समझौते के तहत हथियाई गई जमीनों को उनके मूल स्वामियों को लौटाने के लिए शीघ्र कार्रवाई, सीमा पार से घुसपैठ को रोकने के लिए कड़े उपाय, इत्यादि निर्णय लिए गए।

iv) मगर टीएनवी के सभी गुट इस समझौते से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने आंदोलन को जारी रखने के लिए अलग-अलग गुट बना लिए। जैसे ऑल त्रिपुरा ट्राइबल फोर्स, द नेशनल लिबरेशन फ्रंट ऑफ त्रिपुरा, त्रिपुरा राज्य रक्षा वाहिनी, त्रिपुरा स्टेट वॉलंटीयर्स, त्रिपुरा नेशनल डेमोक्रैटिक ट्राइबल फोर्स। इनमें से भी ऑल त्रिपुरा ट्राइबल फोर्स ने 1993 में सरकार से समझौता कर लिया। यूं तो इस बीच आंदोलन की तीव्रता, आस्था और समर्पण में कमी तो आई है लेकिन इसके विभिन्न गुट अभी तक जीवित हैं। दरअसल, इन्हें एक ओर विभिन्न राजनीतिक दलों से संरक्षण और समर्थन मिल रहा है तो दूसरी ओर इन्हें सीमा पार के भूमिगत संगठनों से संसाधन और हथियार मिलते हैं।

10.5.3 मणिपुर में जनजातीय आंदोलन

मणिपुर में आंदोलनों का एक लंबा इतिहास देखने को मिलता है। इनमें 1917-19 का कुकी विद्रोह 1930-32 का जेलियांग्रोग का नागा विद्रोह और अंग्रेजों की व्यापार नीति के खिलाफ महिला आंदोलन, मेतेई राज्य समिति इत्यादि मुख्य हैं।

मणिपुर एक रियासत थी जिसका विलय भारत में 1949 में हो गया था। तब से लेकर 1972 में राज्य का दर्जा मिलने तक वह एक केन्द्र शाषित प्रदेश रहा। काबुई राज्य में आंदोलनों और विद्रोहों के फिर से उभरने के पीछे कई कारण बताते हैं जैसे पहचान का संकट, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का खोखलापन, आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी और विदेशी शक्तियों का प्रभाव और विचारधारा। जैसा कि हमने पीछे कहा है इस राज्य में भी अनेक आंदोलन हुए हैं, जिनमें से मुख्य आंदोलनों के बारे में हम अब आपको जानकारी देंगे।

i) 1967 *मैतेई राज्य समित* का गठन में मणिपुर के भारत में विलय के विरोध में हुआ। इस संगठन ने धीरे-धीरे एक क्रांतिकारी रूप धारण कर लिया जो एक ऐसे स्वंतत्र मणिपुर की मांग करने लगा जिसका संचालन इराबोत सिंह की समाजवादी विचारधारा के अनुसार हो। लेकिन मगर कुछ ही वर्षों में यह आंदोलन धीमा पड़ गया और फिर 1971 में समिति ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस आंदोलन की असफलता के मुख्य कारण इस प्रकार थे:

क) इसके नेता कम पढ़े लिखे थे,

ख) नेताओं में आंदोलन को उद्देश्यों के लेकर स्पष्ट समझ नहीं थी,

ग) बुनियादी संगठनों और समर्थन की कमी।

ii) मणिपुर में कुकी विद्रोह 1917-19 में जनजातीय लोगों के पारंपरिक सामाजिक ढांचे और जीवन-शैली में अंग्रेज शासकों के दखल के कारण भड़का था। इस आंदोलन को ब्रिटिश हुकूमत ने दबा दिया।

मगर फिर मेतेई लोगों के साथ सरकार के बर्ताव को लेकर भी यही प्रतिक्रिया हुई जो कुकी आंदोलन के लिए एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ। इस आंदोलन को सनमाही पंथ की बढ़ती महत्ता से तेज गति मिली जिससे यह मिथक धराशायी हो जाता है कि मेतेई लोग मूलतः आर्य हैं, जिन्होंने अट्ठारहवीं सदी में हिन्दू धर्म अपना लिया था। इस आंदोलन में मणिपुर नेशनल फ्रंट की भूमिका महत्वपूर्ण रही है, जिसका ध्येय मंगोल विरासत को पुनर्जीवित करना और इसके जरिए सनमाही और पूर्वोत्तर की अन्य मंगोल जातियों को एकता के सूत्र में बांधना है। मणिपुर नेशनल फ्रंट समाज को अपने आदिवासी धर्म की ओर ले जाने का प्रयास कर रहा है और ब्राह्मणवादी और वैष्णव प्रथाओं के वर्चस्व और शोषण से उनकी मुक्ति चाहता है। सनमाही पंथ के पुनरोदय के परिणामस्वरूप मेतेइर लिपि, भाषा और साहित्य को पुनर्जीवन मिला जिससे मेतेई लोगों की एक विशिष्ट पहचान बनी। मगर वहीं इस पहचान की पुनर्स्थापना के मूल में हिन्दुओं और अन्य बाहरी लोगों के प्रति आक्रोश भी था। आंदोलन ने मणिपुर के गौरव और भारत से उसकी सांस्कृतिक भिन्नता को उभारा। मेतेई राष्ट्रवाद के इस उदय का एक परिणाम यह रहा है कि मणिपुर और मणिपुरी शब्दों की जगह अब क्रमशः कांगलेईपक और मेतेई ने ले ली है, जिन्हें एक स्वतंत्र मेतेई राष्ट्र के निर्माण से प्राप्त किया जा सकता है।

इन सभी कारणों ने मणिपुर में विद्रोह को भड़काया और फैलाया है। इस विद्रोह के मुख्य सूत्रधार दो संगठन हैं। इनमें से एक पिपुल्स रिवोलुशनरी पार्टी आफ कांगीलेईपक (प्रिपाक) मार्क्सवादी लेनिनवादी दल है जो मेतेई पुनरुत्थान से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। दूसरा संगठन, पिपुल्स लिबरेशन आर्मी (पीएलए) है जो एक आमूल परिवर्तनवादी विचारधारा मानती है। गांवों में इसका जनाधार बड़ा मजबूत है। यह साम्यवादी विचारधारा को फैलाना चाहती है और पूर्वोत्तर में सक्रिय विभिन्न विद्रोही संगठनों को एकता के सूत्र में बांधना चाहती है। इस प्रकार मेतेई लोगों को हम दोराहे पर खड़ा एक रोचक समूह पाते हैं, जिन्होंने अपने पारंपरिक धर्म को पुनर्जीवित तो कर लिया है मगर जिन्हें जनजातीय, मूल आदिवासी होने का दर्जा नहीं मिल पाया जिसके लिए वे संघर्ष कर रहे हैं। यह दर्जा नहीं मिल पाने के कारण उन्हें संविधान की अनुसूची छह में निहित विशेषाधिकार नहीं मिल पाए हैं।

कुकी आंदोलन 1946 में कुकी नेशनल एसेंब्ली के गठन के साथ फिर से उभरा। धीरे-धीरे इस आंदोलन ने कुकी इंबाल लोगों के लिए एक स्वायत्तशासी जिले या राज्य के लिए राजनीतिक मांग को स्वर देना शुरू किया। इसका उद्देश्य अपनी संस्कृति और जीवनशैली को खोया गौरव वापस दिलाना है।

iii) मणिपुर की महिलाओं ने अंग्रेजों की चावल व्यापार और निर्यात नीति का विरोध किया। इस आंदोलन की वजह एक तात्कालिक समस्या थी जो मौसम की अनिश्चितता के कारण अनाज में आई भारी कमी से पैदा हुई थी। तिस पर चावल के निर्यात और निहित व्यापारिक हितों के दबाव के कारण स्थानीय बाजार में चावल की कीमतें बेहद बढ़ गईं। इस स्थिति में अरीबाम चाओतियन नाम की एक मणिपुरी महिला ने कुछ साथी महिलाओं को एकजुट करके मिल मालिकों को धान बेचना बंद कर दिया। देखते-देखते उनके इस आंदोलन में अन्य महिलाएं भी शामिल हो गईं। अंग्रेजों ने हालांकि इस विद्रोह को कुचल दिया मगर यह आंदोलन राज्य के प्रशासनिक ढांचे और सांस्कृतिक स्वरूप पर अपनी छाप अवश्य छोड़ गया।

iv) जेलियांग्रोंग आंदोलन की शुरुआत जेमेई, लियांगमेई और रोंगमेई तीन आदिवासी समूहों ने की थी जिन्हें सामूहिक रूप से जेलियांग्रोंग कहा जाता था। इस विद्रोह की शुरुआत पहले एक सामाजिक सुधार आंदोलन के रूप में हुई जिसका नेतृत्व रोंगमेई नागा जदोनांग और उसकी चचेरी बहन रानी गैदिनलुई ने किया था। दोनों ने हेराका पंथ की स्थापना की, जिसने कुछ रीति-रिवाजों को खत्म करने और पारंपरिक धर्म को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इन प्रयासों के मूल में हिन्दू और ईसाई धर्म के बढ़ते प्रभाव की काट करना था। यह आंदोलन अंग्रेजों के विरुद्ध होने के साथ-साथ कुकी विरोधी भी था और इसका उद्देश्य जेलियांग्रोंग पहचान बनाकर नागा शासन स्थापित करना था। जदोनांग की गिरफ्तारी और फिर उसे फांसी हो जाने से इस आंदोलन को बड़ा धक्का पहुंचा। मगर उसकी बहिन गैदिनलुई ने इसे ब्रिटिश शासन के खिलाफ कांग्रेस के नेतृत्व में हो रहे राष्ट्रीय

आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलन से जोड़कर अपने आंदोलन को आगे बढ़ाया। मगर इस बीच उसे 14 वर्ष तक कारावास में रहना पड़ा। इस दौरान आंदोलन ठंडा पड़ गया। धीरे-धीरे इसने पूर्णतः शांतिपूर्ण स्वरूप धारण कर लिया और फिर अनेक जनजातीय संगठनों जैसे कबनुई समिति (1934), कबुई नागा एसोसिएशन (1946) जेलियांग्रोंग कांउसिल (1947) मणिपुर जेलियांग्रोंग यूनियन (1947) का भी उदय हुआ जिनका उद्देश्य ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकना था। दो दशकों के बाद इस आंदोलन का उद्देश्य राजनीतिक बन गया। अब यह आंदोलन मणिपुर, नगालैंड और असम की कछार पहाड़ियों के जेलियांग्रोंग बहुल क्षेत्रों को मिलाकर एक पृथक जेलियांग्रोंग प्रशासनिक इकाई की स्थापना की मांग करने लगा है।

10.6 मिजोरम

मिजो लोगों में पहचान बनने की प्रक्रिया लगभग 15 स्थानीय जनजातियों द्वारा एक विशिष्ट मिजो पहचान धारण कर लेने से शुरू हुई। लुशाई पहाड़ियों में राजनीतिक जागरुकता प्रथम विश्व युद्ध से मिजो सैनिकों की वापसी से आंरभ हुई। मगर उनमें राजनीतिक सुस्पष्टता का स्तर कम था और राजनीतिक एकता की अभिव्यक्ति साइमन कमीशन के साथ हुई। यह क्षेत्र 1935 के अधिनियम के अंतगर्त एक अपवर्जित क्षेत्र बना रहा। इधर, द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ भारत की स्वतंत्रता की संभावनाएं भी बढ़ गईं। इसी बीच मिजो लोगों में शिक्षित ईसाई लोगों का एक संपन्न तबका भी खड़ा हो चुका था जो अपने सरदारों की तानाशाही पूर्ण कार्यशाली में घुटन महसूस कर रहा था। इन लोगों ने 1946 में मिजो कॉमन पीपुल्स फ्रंट और मिजो यूनियन के नाम से दो संगठन बना लिए। इन्होंने अपने सरदारों के बराबर वोट डालने का अधिकार मांगा। जैसे-जैसे ये लोग संगठित और मजबूत होते गए ये अपनी सांस्कृतिक और राजनीतिक विशिष्टता को स्थापित करने के साथ- साथ आत्मनिर्णय के अधिकार और अपनी पहचान को बचाए रखने के लिए कई तरह के लाभों की मांग करने लगे। साधारण मिजोवासियों को डिस्ट्रिक्ट कान्फ्रेंस में स्थान मिल गया। इससे भी साधारण लोगों और सरदारों में दूरी बढ़ गई क्योंकि सरदार अपने को उपेक्षित महसूस करने लगे थे। सरदारों ने 5 जुलाई 1947 के दिन यूनाइटेड मिजो फ्रीडम ऑर्गनाइजेशन के नाम से अपना अलग से एक राजनीतिक दल बना लिया और इस मंच से मिजो क्षेत्रों को बर्मा में मिलाने की मांग आई। मगर मिजो यूनियन के नेताओं को महसूस होता था कि वे भारत से जुड़े हैं इसलिए उन्होंने भारत में रहने का निर्णय लिया मगर इसके साथ उन्होंने यह शर्त भी रखी कि वे जब चाहेंगे भारत से स्वतंत्र होने की उन्हें छूट रहेगी। इसके प्रत्युत्तर में भारत सरकार ने मिजो जनजातियों को छठी अनुसूची की सुरक्षा प्रदान की और जिला परिषद् सहित लुशाई पहाड़ियों को कुछ विशेषाधिकार भी दिए।

10.6.1 मिजो पहचान

असम सरकार ने जब असमी को राजकीय भाषा घोषित किया तो इसने मिजो लोगों में अपनी विशिष्ट पहचान को लेकर जो आशंका, जो भय था, उसे और गहरा कर दिया। इसके बाद यूनाइटेड मिजो फ्रीडम ऑर्ग्नाइजेशन ने ईस्टन इंडिया ट्राइबल यूनियन से हाथ मिला लिया और असम से पृथक होने की मांग उठाई। उनके इस प्रयास में उन्हें ऑल पार्टी हिल लीडर्स कॉन्फ्रेंस से भी समर्थन मिला।

मिजो असंतोष का तात्कालिक कारण 1959 में बांस में फूलों का खिलना था जिसके फलस्वरूप पूरे क्षेत्र में भारी अकाल पड़ गया। समस्या से निपटने में सरकारी अकर्मण्यता, किसानों का दमन और राहत के अपर्याप्त उपायों कारणों ने पृथक राज्य के मुद्दे में आग में घी का काम किया। इस स्थिति से निपटने के लिए मिजो सांस्कृतिक सोसाइटी को मिजो नेशनल फैमाइन फ्रंट (मिजो राष्ट्रीय अकाल मोर्चा) में बदल दिया गया। कालांतर में यह संगठन 1963 में लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट के रूप में उभरा। इस संगठन को व्यापक जनसमर्थन मिला और इसने अपने संघर्ष के लिए पाकिस्तान से सहायता मांगी। फिर 20 फरवरी 1966 को 'ऑपरेशन जेरिको' अभियान के तहत मिजोरम को एक स्वतंत्र संप्रभु राज्य घोषित करके सभी प्रमुख सरकारी भवनों, प्रतिष्ठानों इत्यादि पर कब्जा कर लिया गया। इस विद्रोह को दबाने के लिए भारतीय वायु सेना और थल सेना को बुला लिया गया। मिजोरम नेशनल फ्रंट को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया जिससे 'विद्रोही सरकार' को भूमिगत होना पड़ा। भारत सरकार ने मिजोरम को अशांत क्षेत्र घोषित कर दिया। इसके पश्चात भारतीय सुरक्षा नियम अधिनियम और

सार्वजनिक व्यवस्था अनुरक्षण अधिनियम के अंतगर्त 1967 और 1970 के बीच चार चरणों में गांवों को समूहों में बांटने की रणनीति पर अमल किया गया।

बोध प्रश्न 2

1) पूर्वोत्तर में हुए नागा आंदोलन के बारे में दस पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2) मणिपुर में हुए जनजातीय आंदोलनों के बारे में दस पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

मिजो नेशनल फ्रंट और इसके नेता लालडेंगा भूमिगत हो गए। सरकार ने गांवों का विसमूहन किया और फिर मिजोरम को एक केन्द्र शासित प्रदेश घोषित कर दिया गया। एक लंबे और कठोर मगर निष्फल संघर्ष के बाद लालडेंगा ने समझौते के लिए हाथ बढ़ाए और सरकार और आपसी सहमति से एक 'शांति समझौते' पर 1 जुलाई 1976 को हस्ताक्षर हुए। समझौते के तहत मिजो नेशनल फ्रंट सशस्त्र विद्रोह को समाप्त करने, आत्म समर्पण करने और मलूतीय संविधान के तहत राजनीतिक समझौते के लिए राजी हो गया। मगर भूमिगत आंदोलन नहीं थमा और सशस्त्र सेनाओं और आंदोलनकारियों के बीच संघर्ष फिर से छिड़ गया। इसके बाद दमन और समझौता वार्ता के कई दौर चले। सुलह वार्ता अंतत: एक औपचारिक समझौते में समाप्त हुई जिस पर 30 जून 1986 को लालडेंगा, लालथन वालो और भारत सरकार के प्रतिनिधि प्रधान ने हस्ताक्षर किए। आखिरकर भारतीय संघ में मिजोरम को एक पृथक राज्य का दर्जा दे दिया गया।

10.7 बोडो आंदोलन

समकालीन दौर में बोडो आंदोलन एक बड़ा रोचक विषय है। इस आंदोलन को ऑल बोडो स्टुडेंट्स यूनियन (अखिल बोडो छात्र संगठन) ने 1987 में शुरू किया था। इस आंदोलन की मुख्य दो मांगे हैं: (क) ब्रह्मपुत्र के नदीतट पर एक पृथक राज्य की मांग और (ख) संविधान की छठी अनुसूची में

बोडो-कहारी कुछ अन्य जनजातियों को शामिल किया जाना। इस आंदोलन के मूल में हम एक गैर जनजातीय बहुल राज्य में एक प्रभावी जनजातीय समूह के रूप में बोडो लोगों की स्थिति को देख सकते हैं। सरकार का जनजातीयों के प्रति उपेक्षापूर्ण और उदासीन रवैया, आर्थिक शोषण, भूमि, नौकरियों और अन्य संसाधनों के नियंत्रण, भाषा, लिपि और जनजातीय जीवन के अन्य सांस्कृतिक पहलुओं के मद्देनजर बोडो पहचान को खोने का डर इत्यादि कारकों ने इस आंदोलन में उत्प्रेरक का काम किया।

10.8 जनजातीय जातीयता का स्तरीकरण का आधार बनना

जातीयता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि जाति की तरह यह भी एक स्थिति समूह है। परिवार और राज्य या राष्ट्र के बीच एक मध्यस्थ है। वेबर के अनुसार स्थिति समूह एक ऐसा जनसमूह है जिसे ऐसे ही अन्य समूहों की तुलना में एक विशिष्ट प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त रहता है। किसी भी वृहत्तर समूह में सांस्कृतिक भेद होना लाजमी है। मगर उभरती जातीय चेतना के चलते कुछ सांस्कृतिक भेदों को समूह की पहचान के जातीय चिन्हकों के रूप में प्रयोग किया जाने लगता है। सामूहिक पहचान और चुनिंदा चिन्हकों की यह जोरदार अभिव्यक्ति समूह को आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि तरह-तरह के सामूहिक उद्देश्यों, हितों की पूर्ति के लिए लामबंद करने में सहायक होती है। ये सामूहिक उद्देश्य और हित जिस हद तक पूरे होते हैं या नहीं होते वह सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है।

10.8.1 जातीय आंदोलन

जातीय आंदोलनों को आम तौर पर एक खास सामाजिक परिस्थिति में समूहों की प्रतिक्रिया के रूप में लिया जाता है जिसमें समूह विशेष को यह महसूस हो रहा हो कि उन्हें वंचित किया जा रहा है। इसकी वजह यह है कि उसे वह सब नहीं मिलता है जिसे वह अपने लिए न्यायोचित समझता है। इस न्यायोचित मान्यता का मतलब यह है कि जैसे उसके सदस्यों से हैसियत में बराबरी का बर्ताव नहीं किया जा रहा हो (यह उन्हें स्थिति तुल्य नहीं माना जा रहा हो) या उन्हें अन्य समूह से निचले दर्जे पर अनुचित रूप से रखा गया हो। उसका सरोकार स्थिति हैसियत की बराबरी या अपने 'अधिकार' के रूप में ऊंची स्थिति हो सकती है। इस प्रकार भौतिक हितों के अलावा स्थिति, सामाजिक मान्यता, प्रतिष्ठा के सरोकार भी उतने ही महत्वपूर्ण हो जाते हैं। कोई भी जनजाति या आदिवासी समूह समानता की मांग कर सकता है या फिर अपनी संस्कृति, भाषा इत्यादि की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित करना चाह सकता है। जनजातीय लोगों के घोर संघर्ष के पश्चात आयाम राज्य से नागालैंड, मिजोरम और मेघालय राज्यों का उदय और उसके बाद अपने अलग राज्य, भाषा और लिपि के लिए बोडो लोगों का जारी आंदोलन इन सबने अंत: जातीय और अंतरजातीय स्तरीकरण व्यवस्था को कई महत्वपूर्ण कोणों से प्रभावित किया है।

जातीय आंदोलन का एक महत्वपूर्ण पहलू आर्थिक लाभ, नौकरी, शैक्षिक सुविधा इत्यादि प्राप्त करने की स्थिति में आने के लिए लामबंदी से जुड़ा है। यह इस प्रकार की मांग का रूप ले सकती है कि कुछ पद स्थान सिर्फ एक खास जनजाति को ही दिए जाएं या उन्हें जनजातीय आबादी के अनुपात के अनुसार बांटा जाए। इस प्रकार जातीय लामबंदी की प्रक्रिया संघर्ष दो सामान्य स्तरों पर प्रभावित करती है। (क) एक है उचित मान्यता के लिए संघर्ष (ख) दूसरा है विशेष आधार पर अधिक आर्थिक और राजनीतिक लाभ के लिए संघर्ष के आरंभ होते ही विभिन्न सांगठनिक और नेतृत्व स्तरों पर नए पद/स्थान अस्तित्व में आ जाते हैं जिनको अलग-अलग सत्ताधिकार, प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ प्राप्त होता है। यह नया परिवर्तन समूह के अंदर मौजूदा संबंधों को बदल सकता है।

10.8.2 गतिशीलता और जातीय समूह

वृहत्तर जातीय समूहों के अंदर व्यक्तियों और उप-समूहों को नए किस्म के अवसर उपलब्ध हो सकते हैं जिसके फलस्वरूप निजी और उप-वर्गों के स्तरों के बीच उपरिगामी और अधोगामी गतिशीलता उत्पन्न होती है। अगर कोई समूह अपने समूह के अंदर संस्कृति, सम्मान, प्रतिष्ठा इत्यादि भेदों को प्रतिष्ठित करता है तो इससे आमदनी, जीवनशैली, शिक्षा इत्यादि में मौजूदा व्यावयायिक विभेदन और विकसित रूप ले सकता है। तिर्यक-समूह समानताओं को पैदा कर और *अंतरासमूह* भेदों को बढ़ा करके यह प्रक्रिया विभिन्न

जातीय समूहों के बीच मौजूद सीमा चिन्हकों को खतरे में डाल सकती है। विशेषकर जब वर्ग संबंध और वर्ग संबंधी जीवन शैलियां जातीय समूहों की सीमाओं को तोड़कर एक नया गठबंधन बना ले और भौतिक मान्यता और पुरस्कार पाने के लिए अपनी घनिष्ठता को अभिव्यक्ति दें। बल्कि यह पृथक राज्य या पृथक प्रांतीय स्वायत्तता की मांग उठा सकती है। इस लक्ष्य की पूर्ति होते ही इस समूह में नए विकार पैदा होने की संभावनाएं प्रबल हो जाती हैं। विशेषकर पूर्वोत्तर जैसी स्थिति में भारतीय संविधान की छवि अनुसूची का कार्यान्वयन, संरक्षणात्मक भेद की गति विकास और एकीकरण की नीति, चुनाव प्रक्रिया में भागीदारी इन सबने जातीय चेतना को और धारदार बना दिया है जिसे वृहत्तर राजनीतिक सत्ताधिकार, संसाधनों और गतिशीलता पाने के लिए प्रयोग किया जा रहा है। इन सब कारणों से जनजातीय और गैर जनजातीय लोगों के बीच संबंध भी बदल रहे हैं। एक सामाजिक श्रेणी के रूप में जनजातीय लोगों को अब घृणा से नहीं देखा जाता या निकृष्ट नहीं समझा जाता है बल्कि वे राज्य में प्रभावी समूह के रूप में देखे जा सकते हैं। जनजातीय समूह एक वंचित समूह हो सकता है जिसके अंदर कठोर असमानताएं मौजूद रहती हैं। इस प्रकार एक हद तक जनजातीय और सामान्य लोगों में भेद तुलनीय शैक्षिक वर्ग स्थिति वालों के मुकाबले घट रहे हैं, जिनमें समानता जनजातीय और गैर जनजातीय लोगों के बीच विद्यमान समानताओं से कहीं ज्यादा समतावादी हो सकती है।

10.9 सारांश

जातीयता को अगर साकारात्मक नजरिए से देखें तो वह समानता, आत्मोत्कर्ष सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण, सांस्कृतिक विविधता, समतावादी सामाजिक व्यवस्था के प्रसार इत्यादि का एक बड़ा माध्यम है। इस अर्थ में जातीय समूह की लामबंदी राजसत्ता के सत्ताधिकार को कम करने का जरिया है। मगर वहीं यह कलह, जातीय संघर्ष, जातीय असहिष्णुता, समूहों की दासता इत्यादि का कारण भी बन सकती है।

10.10 शब्दावली

अंतर्लयन : वह प्रक्रिया जिसके जरिए जनजातियां अन्य समूहों और समुदायों में जा मिलीं, और उनका हिस्सा बन गईं।

जातीयता : यह आदतों, विशेषताओं और उत्पत्ति की सांस्कृतिक परतों से मिलकर बनती है, जो एक विशेष जातीय वंश-कुल से संबंध रखने वाले एक समूचे समुदाय को एकात्मता में बांधती है।

पहचान : किसी व्यक्ति, समूह या समुदाय विशेष के विशिष्ट लक्षण।

सत्ताधिकार : किसी व्यक्ति या समूह को उनकी इच्छा के विपरीत भी उन्हें प्रभावित करने की शक्ति।

प्रतिष्ठा : एक तरह का दर्जा जो किसी व्यक्ति, समूह या समुदाय से जुड़ जाता है।

जनजाति : ऐसे समूह/समुदाय को उसके विशिष्ट लक्षणों से अलग पहचाना जा सकता है।

10.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ए.सी. भूपिंदर सिंह (संपा.) *ट्राइबल स्ट्डीज ऑफ इंडिया सिरीज* 183 *एंटिक्विटी टु मॉडर्निटी इन मॉडर्न इंडिया* (खंड II) पृ. 221-247

बर्मन, बी.के. रॉय, 1972 "इंटेग्रेटेड एरिया एप्रोच टु द प्रॉब्लेम्स ऑफ ट्राइबल्स इन नॉर्थ-ईस्टर्न इंडिया" के. सुरेश सिंह (संपा.) *ट्राइबल सिचुएशन इन इंडिया,* नई दिल्ली/शिमला, मोतीलाल बनारसीदास

10.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मुखियों की संख्या के माध्यम से मिजो लोगों के पास एक स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था थी। मुखिया और उसका घर उनके क्रियाकलापों का केन्द्र थे। विवाह होने पर मुखिया के बेटे को कुछ घर सौंप

दिए जाते थे जिससे वह अपना गांव बसाकर स्वतंत्र हो जाता था। मगर उसका दूसरा बेटा मुखिया के साथ रुक कर उसका उत्तराधिकारी बनता था। गांव का राजकाज चलाने के लिए बुजुर्गों का एक सभा मुखिया का हाथ बंटाती थी।

2) जैंतिया समाज राजा, प्रशासक (गवर्नर), ग्राम प्रधान और जनसाधारण (इसमें अधिकारी वर्ग भी शामिल था) में बंटा था। संपत्ति का स्वामित्व महिलाओं को प्राप्त तो होता था, मगर उसका नियंत्रण और संचालन पुरुषों के हाथ में था। भोगाधिकारी बनाने का अधिकार मिलने पर महिलाओं का अविवाहित रहना पड़ता था, उनका कोई भाई नहीं होना चाहिए। महिलाओं के साथ विवाह और तलाक के मामलों में भी भेदभाव बरता जाता था। वधू के मोल की प्रथा भी उनके लिए अपमानजनक थी।

बोध प्रश्न 2

1) नागा आंदोलन को जन्म देने वाले कई कारक महत्वपूर्ण थे। इनमें सबसे मुख्य अंग्रेजों से मिले विशेषाधिकारों के हर लिए जाने की आशंका और उनकी जातीय पहचान में भारी ह्रास था। नागा जातीय पहचान को ठोस अभिव्यक्ति 1918 में नागा क्लब की स्थापना से मिली थी। वर्ष 1947 में असम के गवर्नर ने नागा नेशनल काउंसिल के साथ एक समझौता किया। लेकिन नागाओं ने 1952 के चुनावों और जिला परिषद योजना का बहिष्कार किया। फिर 1975 में शिलांग समझौता हुआ जिसके तहत भूमिगत नागा गुरिल्ला संगठनों ने भारतीय संविधान को स्वीकार कर लिया। मगर 1980 के दशक में भी नेशनलिस्ट सोशलिस्ट कांउसिल ऑफ इंडिया ने संप्रभु राज्य की स्थापना के लिए अपना संघर्ष नहीं छोड़ा था।

2) मणिपुर में जनजाति संघर्ष का एक लंबा इतिहास है, जेलियांग्रोंग नागा विद्रोह (1930-32) और कुकी विद्रोह (1917-19) इसकी दो कड़ियां हैं। इन विद्रोह के कई कारण बताए गए हैं, जिनमें मुख्य थे पहचान का संकट, भारत की कमजोर राजनीतिक व्यवस्था, हर तरह का शोषण, भ्रष्टाचार और बेरोजगारी। इसी तरह 1967 में एक स्वतंत्र मणिपुर के लिए मैती स्टेट कमेटी के नेतृत्व में भी आंदोलन हुआ था। कमेटी ने 1971 में हथियार डाल दिए। इस आंदोलन के असफल होने का कारण शिक्षा की कमी और सांगठनिक कमजोरी थी। मणिपुर का कुकी विद्रोह (1917-19) अंग्रेजों के खिलाफ था। अन्य संगठनों में प्रमुख मणिपुर नेशनल फ्रंट है जिसका लक्ष्य मंगोल विरासत को फिर से जगाना है। अंत में लिपि भाषा, और साहित्य मैतियों को एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती है।